06_suhas_Layout 1 5/1/2014 3:33 PM Page 67

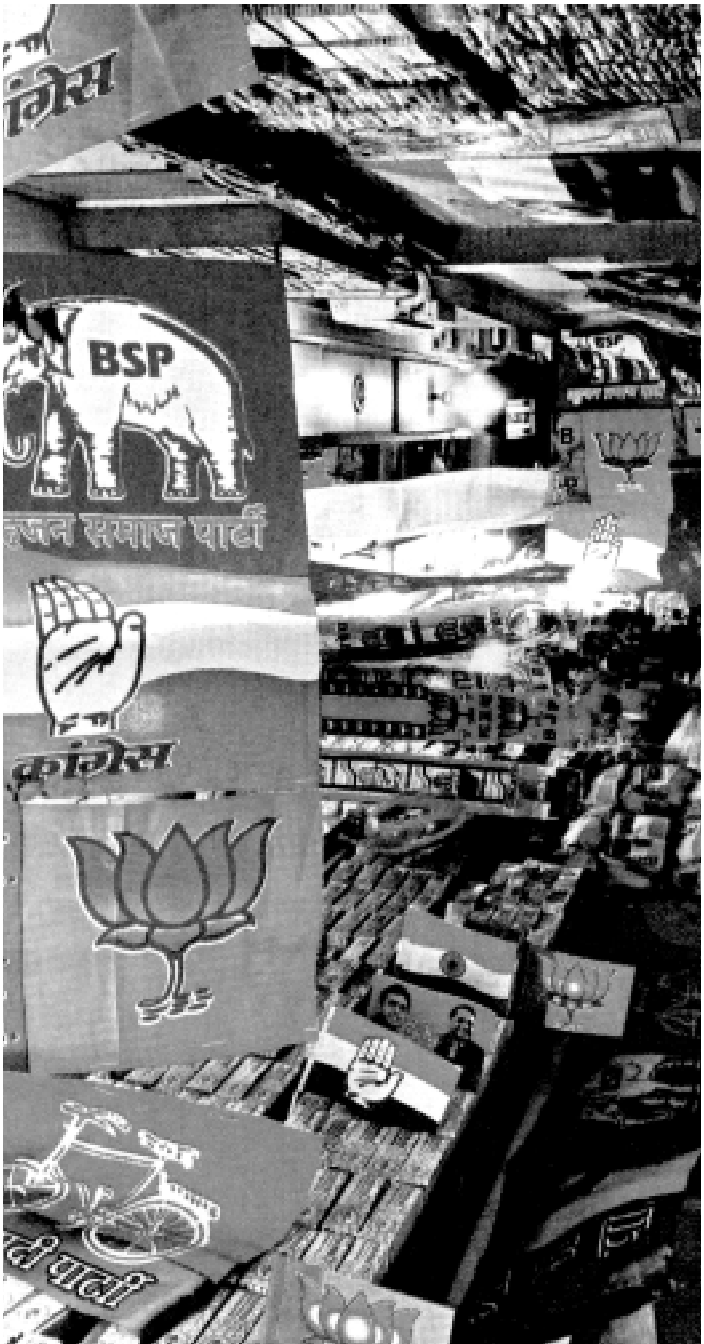

चुनावी होड़ की समझ

मुद्दे और विश्लेषणात्मक संरचना

सुहास पलशीकर

अनुवाद : अरुण कुमार त्रिपाठी

भारतीय राजनीतिशास्त्र के दायरे में चुनाव-अध्ययन कोई नयी बात नहीं है। यह अलग है कि चुनाव-अध्ययन की विधि के बारे में कोई आम राय अभी तक नहीं बन पायी है। साथ ही यह भी तय नहीं हो पाया है कि जब हम चुनाव-अध्ययन करते हैं तो दरअसल ठीक-ठीक करना क्या चाहते हैं। भारत में कांग्रेस पार्टी का वर्चस्व टूटने के बाद नयी राजनीतिक प्रणाली की शक्ल-सूरत 1989 के मध्य से बननी शुरू हुई थी। इसी के साथ चुनाव में व्यापक रुचि और उसके नतीजों में कई गुना बढ़ोतरी का सिलसिला शुरू हुआ। आंशिक तौर पर इस बढ़ी हुई दिलचस्पी की व्याख्या इसी दौरान हुए इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के विस्फोट के साथ की जा सकती है। वैसे इस दिलचस्पी के बढ़ने का एक आंशिक कारण यह भी है कि चुनावी प्रक्रिया ज़्यादा जटिल हो गयी है और उसके परिणाम अनिश्चित हो गये हैं। प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति में नयी शक्तियाँ सक्रिय हो गयी हैं और अस्सी के दशक के आख़िरी दौर में नये सामाजिक-राजनीतिक कारक भी खड़े हो गये हैं। तीसरी बात यह है

कि इस दौरान प्रतिस्पर्धा की संरचना में अपने आप बहुत बदलाव हो गया है, जिसके कारण राजनीतिक प्रक्रिया की प्रचलित समझ नब्बे के दशक की नयी राजनीति समझने के लिहाज़ से अप्रासंगिक हो गयी है।

1989 के बाद से भारत ने सात संसदीय चुनाव देखे हैं जिनमें तीन मध्यावधि थे। हालाँकि 1999 के बाद पाँच साल का चक्र स्थिर हो गया, लेकिन इस प्रक्रिया में संसदीय और विधानसभा चुनावों का संबंध भंग हो गया। ज़्यादातर राज्यों के पास अपना चुनाव चक्र है जिसका संसदीय चक्र से संबंध नहीं रह गया है। लगभग चौथाई सदी के दायरे में फैले हुए इन चुनावों में एक बार ही कोई सरकार लगातार दो कार्यकाल पूरा कर सकी है। वास्तव में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) सरकार अकेली थी जिसे एक कार्यकाल पूरा करने के बाद दूसरी बार चुना गया। ये विशेषताएँ संसदीय चुनावों को एक पहेली जैसी चीज़ में बदल देती है, एक ऐसी पहेली जिसकी प्रकृति गूढ़ रहस्य की होती है और जिसके कारण होड़ में भाग ले रहे लोग विकट चुनौतियों का सामना करने लगते हैं। 1989 के बाद दस सरकारें बनीं, जिनमें आठ सरकारें न तो अपना कार्यकाल पूरा कर सकीं, न ही दोबारा चुनी जा सकीं। ज़ाहिर सी बात है कि इन चुनावों का अध्ययन दो मुद्दों पर केंद्रित है : एक बात यह है कि हर चुनाव-परिणाम का अर्थ समझा जाए, और दूसरी बात यह है कि उन संरचनागत विशेषताओं की थाह ली जाए जिसे यह चुनावी उथल-पुथल प्रकट करती है।[1]

इसी दौर में मतदाता-प्राथमिकताओं को आकार देने वाले सामाजिक कारकों के अनुभवजन्य अध्ययन हेतु सर्वेक्षण की अकादमीय परम्परा की बहाली भी हुई। विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी.एस.डी.एस.) के तहत चलने वाले लोकनीति कार्यक्रम ने सर्वेक्षण की जो प्रभावी परम्परा शुरू की थी, वह अस्सी और नब्बे के दशक की शुरुआत में ज़्यादातर ख़ामोश ही पड़ी रही। 1996 से यह परम्परा फिर नये जोश के साथ शुरू हुई।[2] सर्वेक्षण से यह समझने में तो मदद मिलती है कि चुनाव में मतदाता किस प्रकार मतदान करते हैं, लेकिन इससे मतदाताओं के व्यवहार पर हावी व्याख्याकारी कारकों की समझ प्रदान करने वाले दीर्घकालिक विचार रेखांकित नहीं हो पाते। यानी यह पता नहीं

---

[1] चुनावी नतीजों का अर्थ-ग्रहण करने में योगदान करने वाले लेखन के लिए देखें, रामाश्रय राय और पाल वैलेस (सम्पा.) (1999), *इण्डियन पॉलिटिक्स ऐंड 1998 इलेक्शन : रीज़नलिज़म, हिंदुत्व ऐंड स्टेट पॉलिटिक्स,* सेज, नयी दिल्ली तथा रामाश्रय राय और पाल वैलेस (सम्पा.) (2007), *इण्डियाज़ 2004 इलेक्शंस : ग्रासरूट ऐंड नैशनल पर्सपेक्टिव्ज़,* सेज, नयी दिल्ली. इसके साथ ही देखें, योगेंद्र यादव (2004), 'द इल्यूसिव मेंडेट 2004', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 39, अंक 51 : 5383-5398 तथा योगेंद्र यादव और सुहास पलशीकर (2009), 'बिटवीन फ़ोर्च्यून ऐंड वर्च्यू : एक्सप्लेनिंग दि कांग्रेस एंबिगुअस विक्ट्री इन 2009', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 44, अंक 39 : 33-46. उत्तर-कांग्रेस दौर में चुनावी राजनीति की संरचनात्मक ख़ूबियों की समझ विकसित करने के लिए देखें, ई. श्रीधरन (2002), 'फ्रैग्मेंटेशन ऑफ़ इण्डियन पार्टी सिस्टम 1952-1999 ,सेवन कंपीटिंग ऐक्सप्लेनेशंस', ज़ोया हसन (सम्पा.), *पार्टीज़ ऐंड पार्टी पॉलिटिक्स इन इण्डिया, 2002,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 475-503; योगेंद्र यादव (1996), 'रिकंफ़िगरेशन इन इण्डियन पॉलिटिक्स :स्टेट असेम्बली इलेक्शंस 1993-95', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 31. ,अंक 2 और 3 : 95-104; और योगेंद्र यादव (1999), 'इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन द टाइम ऑफ़ चेंज : इण्डियाज़ थर्ड इलेक्टोरल सिस्टम 1989-99', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 34, अंक 21-28 : 34-35, 2393-99; तथा सुहास पलशीकर, योगेंद्र यादव और के.सी. सूरी, 'नार्मलाइजेशन ऑफ़ पोस्ट-कांग्रेस पॉलिटी', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), (प्रकाश्य 2014), *पार्टी कम्पटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस. नयी दिल्ली.

[2] चुनाव-अध्ययन किये जाने वाले सर्वेक्षणों की परम्परा की समीक्षा के भारतीय अध्याय के लिए देखें, लोकनीति टीम (2004), 'नैशनल इलेक्शन स्टडी 2004 : ऐन इंट्रोडक्शन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 40, अंक 51 : 5373-82; लोकनीति टीम (2009), 'नैशनल इलेक्शन स्टडी 2009 : ए मेथॅडोलॅजिकल नोट', *इकॉनॉमिक ऐंड*

06_suhas_Layout 1 5/1/2014 3:33 PM Page 69

लग पाता कि मतदाताओं के व्यवहार को संतोषजनक तरीक़े से समझने के लिए कौन-कौन से सामाजिक चरित्र या राजनीतिक कारक सहायक हो सकते हैं।[3] चुनाव-अध्ययन के लिए समर्पित *प्रतिमान* के इस खण्ड के निबंध हमें एक राज्य या एक चुनाव के विशिष्टताओं से आगे जाने में मदद करते हैं, हालाँकि यह विशिष्टतावाद या किसी राज्य के परिवेश के साथ बँध जाना चुनाव-अध्ययन की सीमा रही है। दरअसल, लोकनीति और सी.एस.डी.एस. के पास उपलब्ध आँकड़ों का संग्रह हमें 2014 के लोकसभा चुनाव के बारे में न केवल कुछ मुद्दे रेखांकित करने की छूट देता है बल्कि उस चुनाव का परिणाम समझने के लिए एक विश्लेषणात्मक संरचना भी प्रस्तावित करता है।

इस निबंध का उद्देश्य उन प्रमुख मुद्दों का सार तैयार करना है जो पिछली चौथाई सदी की प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति के अनुभव से उभरे हैं। ये मुद्दे संक्षेप में एक ऐसे सम्भावित एजेंडे की तरफ़ इशारा करते हैं जिसे चुनाव-अध्ययन के तहत एक लाभकारी शोध-क्षेत्र के रूप में अपनाया जा सकता है।

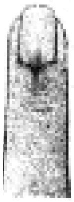

इन चुनावों का अध्ययन दो मुद्दों पर केंद्रित है : एक बात यह है कि हर चुनाव-परिणाम का अर्थ समझा जाए, और दूसरी बात यह है कि उन संरचनागत विशेषताओं की थाह ली जाए जिसे यह चुनावी उथल-पुथल प्रकट करती है।

राज्यों का उभार

भारतीय राजनीति में राज्यों के उभार के इर्द-गिर्द एक बहस पैदा हुई है। उत्तर-कांग्रेस राजनीतिक प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता यह है कि राजनीति करने और उसका विश्लेषण करने वालों ने महसूस किया है कि चुनावी होड़ का अखिल भारतीय प्रारूप अधिकांशत: घटनाओं के बाद उभरता है। कई राज्यों में एक सा प्रारूप दिखाई पड़ने पर होड़ में हुए परिवर्तन को अखिल भारतीय परिघटना मान लिया जाता है। हालाँकि इस तरह रेखांकित हुई तथाकथित राष्ट्रीय परिघटना की गतिशीलता और कारक राज्य-केंद्रित ही हैं। यही कारण है कि

पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 45, अंक 39 : 196-202. यह अलग बात है कि कई लोग चुनाव की समझ बनाने के लिए सर्वेक्षणों के महत्त्व से सहमत नहीं हो पाए हैं. जो भी हो, बड़ी संख्या में वोटरों की भागीदारी को देखते हुए अकादमीशियनों को मतदान के कारणों और प्रकृति की समझ बनाने के लिए मात्रात्मक पद्धति की इस्तेमाल करना ही पड़ता है. यह न केवल एक विडम्बना होगी बल्कि इसे एक संदिग्ध अकादमीय रवैया भी माना जाएगा अगर मतदान-व्यवहार का पता लगाने के लिए उपलब्ध तकनीकों का सहारा न लिया जाए.

[3] दीर्घकालीन प्रवृत्तियों पर ध्यान देने वाले सीमित साहित्य में से उन रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें विभिन्न सामाजिक तबक़ों के मतदान-व्यवहार पर एक पूरी अवधि के दौरान निगाह डाली गयी है. देखें, हीथ एंथनी और योगेंद्र यादव (1999), 'द यूनाइटेड कलर्स ऑफ़ कांग्रेस वोटर, 1996 और 1998', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* अंक 34-35 : 2518-28; सुहास पलशीकर (2007), 'दलित पॉलिटिक्स इन नाइनटीज़ : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स ऐंड प्रेडिकामेंट बिफ़ोर ऐन अंडरप्रिविलेज्ड कम्युनिटी, *इण्डियन जर्नल ऑफ़ सोशल वर्क,* खण्ड 68, अंक 1 : 101-129. जाति के ज़रिये मतदान-व्यवहार पर रोशनी डालने वाली रचना के लिए देखें, हीथ ओलिवर और योगेंद्र यादव (2010), 'द राइज़ ऑफ़ कास्ट पॉलिटिक्स : पार्टी सिस्टम चेंज ऐंड वोटर्स रिएलायनमेंट, 1962-2004', हीथ एंथनी और राबिन जेफ़री (सम्पा.) (2010), *डायवर्सिटी ऐंड चेंज इन मॉडर्न इण्डिया : इकॉनॉमिक, सोशल ऐंड पॉलिटिकल एप्रोचेज़,* ऑक्सफ़र्ड, ब्रिटिश एकेडमी और ओयूपी : 189-218.

06_suhas_Layout 1 5/1/2014 3:33 PM Page 70

राजनीतिक राजनीति रणनीतियों की रचना और कार्यान्वयन के अखाड़े के तौर पर राज्य ही उभरते हैं। यह स्थिति उस चुनावी प्रतिस्पर्धा से बिल्कुल अलग है जहाँ एक पार्टी, एक नेता या कोई एक मुद्दा पूरे देश में लहर बना कर चुनावी परिणामों को आकार देता है।

हक़ीक़त यह है कि 1967 के विधानसभा चुनाव में ही अखिल भारतीय प्रारूप राज्यों के उभार ने भग्न कर दिया था। लेकिन 1971 में कांग्रेस के दबदबे की वापसी के साथ यह परिवर्तन दब गया। इसके बाद 1977 में उत्तर-दक्षिण का जो फ़र्क़ सामने आया उसकी व्याख्या राजनीति के मंच पर राज्यों के उदय के तौर पर करने के बजाय क्षेत्रीय अंतर के तौर पर कर दी गयी। अस्सी के दशक के अंत में जा कर राजनीतिक बदलाव को आकार देने में राज्यों को एक महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में चिह्नित करने की शुरुआत हुई। ज़ाहिर है कि राज्यों की अपनी अलग राजनीतिक गतिशीलता पहले भी थी, लेकिन उसका राष्ट्रीय स्तर की राजनीति के परिणामों पर प्रभाव पड़ते देखा नहीं गया था। ऐसा लगता है कि जैसे उस समय कुछ ऐसे कारक थे जो लोकसभा चुनावों के मुद्दों और परिणामों पर पड़ने वाले राज्यों के प्रभाव को प्रमुखता नहीं प्राप्त करने देते थे। दरअसल, चुनावी राजनीति की अग्रगति के दो पहलू होते हैं : एक राज्य स्तरीय पहलू होता है और दूसरा राष्ट्रीय या अखिल भारतीय राजनीति का। शुरुआत में राज्य केंद्रित अंतर को बहुत महत्त्व न दे कर अखिल भारतीय राजनीति को विश्लेषण और व्याख्या का मुख्य विषय समझा जाता था।

कांग्रेस-प्रभुत्व के स्थायी क्षय के साथ सत्तर और अस्सी के दशक में पार्टी प्रणाली का आकार लेने, राष्ट्रीय नेतृत्व के जनमतसंग्रही चरित्र के निष्प्रभावी होने, राज्य-स्तर पर जातिगत लामबंदियों और आर्थिक विकास (या उसकी कमी) के विभेदनकारी प्रभाव के साथ ही प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति की व्याख्या में राज्य केंद्रीय भूमिका अख़्तियार करने लगा। न सिर्फ़ चुनाव परिणाम हर राज्य के मुताबिक़ बदलने लगे, बल्कि प्रतिस्पर्धा का स्वरूप भी राज्य केंद्रित होने लगा। आज कांग्रेस का पतन और उत्तर-कांग्रेस राजनीति का उदय नब्बे के दशक के मंथन का संयुक्त परिणाम लगता है, लेकिन वास्तव में उसकी हर राज्य में अलग-अलग कहानी है। इसी कारण से संसदीय चुनावों का विश्लेषण करने के लिए राज्य स्तरीय परिणामों की ओर देखा जाने लगा। विश्लेषण के इसी परिप्रेक्ष्य ने 1996, 1998, 1999 और 2004 के चुनाव परिणामों को समझने की सार्थकता प्रदान की।

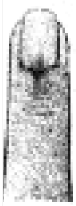

न सिर्फ़ चुनाव परिणाम हर राज्य के मुताबिक़ बदलने लगे, बल्कि प्रतिस्पर्धा का स्वरूप भी राज्य-केंद्रित होने लगा। आज कांग्रेस का पतन और उत्तर-कांग्रेस राजनीति का उदय नब्बे के दशक के मंथन का संयुक्त परिणाम लगता है, लेकिन वास्तव में उसकी हर राज्य में अलग-अलग कहानी है।

2009 के चुनाव ने सवाल खड़ा किया कि क्या इस निर्वाचन में भी राज्य ही चुनावी राजनीति के प्रमुख केंद्र थे। 2009 के राष्ट्रीय चुनावी आँकड़ों का अध्ययन करते हुए दो विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयी हैं। यादव और पलशीकर का कहना है कि इस चुनाव में राष्ट्रीय (या केंद्रीय) सरकार के काम से होने वाले संतोष के मुक़ाबले राज्य सरकार के प्रदर्शन से होने वाला संतोष मतदाताओं के लिए ज़्यादा अहम बन गया था। ज़्यादातर मतदाताओं की निगाह में राज्य सरकारों का प्रदर्शन राष्ट्रीय

06_suhas_Layout 1 5/1/2014 3:33 PM Page 71

सरकार के प्रदर्शन से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण था। यानी इस समझ के मुताबिक़ मतदाताओं की पसंद-नापसंद के लिए राज्य ज़्यादा प्रमुख इकाई है। इसके विपरीत प्रदीप छिब्बर का कहना है कि 2009 के चुनावों को संचालित करने में राष्ट्रीय मुद्दे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण थे। इन दो दृष्टिकोणों में ख़ास फ़र्क़ दिशा और ज़ोर पर है। ऐसे कई कारण हैं जिनकी वज़ह से 2009 के बाद हुए राजनीतिक बदलाव राष्ट्रीय स्तर के कारकों की तरफ़ खिसकते हुए दिखायी दे रहे हैं। लोकनीति की तरफ़ से जून, 2013 और जनवरी, 2014 में हुए चुनाव-पूर्व सर्वेक्षण बताते हैं कि 2014 के संसदीय चुनावों में केंद्र सरकार के बारे में हुए नकारात्मक आकलन का मतदाताओं की राय पर गहरा असर पड़ने वाला है। 2004 में प्रमुख मुद्दों का अनुपात हल्क़ा-सा राज्यों के पक्ष में झुका हुआ था (यह अनुपात 1.03 था जबकि अगर अनुपात 1 होता तो उससे राज्यों और केंद्र सरकारों के समान महत्त्व का संदेश मिलता)। यह अनुपात 2009 में 1.73 तक पहुँच गया था। पलशीकर, सूरी और यादव के मुताबिक़ राज्यों के पक्ष में हुए इस झुकाव का श्रेय आंध्र प्रदेश जैसे प्रांतों में ज़बरदस्त राज्य समर्थक भावनाओं के साथ-साथ गुजरात, बिहार, केरल, कर्नाटक, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र व अन्य राज्यों में भी मौजूद हलकी राज्य समर्थक भावनाओं को जाता है। हालाँकि 2014 में भी इनमें से कुछ राज्य स्थानीय विषयों को ज़्यादा अहमियत देते रहेंगे, लेकिन सवाल यह है कि केंद्र सरकार से नाराज़गी किस हद तक राज्यों को दरकिनार कर चुनाव-परिणाम को प्रभावित करेगी? इस अर्थ में 2014 का चुनाव राज्य और केंद्र सरकार के मुद्दों के बीच वरीयता बदलने के लिहाज़ से अहम हो सकता है।

राज्य के दलों की भूमिका

क्या राज्य और केंद्र के मुद्दों में वरीयता के इस बदलाव की सम्भावना से राज्य के दलों के लिए ख़तरा है? 1989 के बाद जबसे कांग्रेस का पतन शुरू हुआ है तबसे असली फ़ायदे में राज्य स्तरीय खिलाड़ी रहे हैं। कांग्रेस और भाजपा का संयुक्त वोट प्रतिशत पचास प्रतिशत (1991 को छोड़ कर जब यह 57 प्रतिशत था) रहा है। लोकसभा में उनकी सीटों की संयुक्त संख्या भी 1991 को छोड़कर कभी 60 प्रतिशत के ऊपर नहीं गयी। यह स्थिति राज्य स्तरीय दलों के लिए ज़्यादा जगह ख़ाली करती है। हालाँकि 2004 में वामपंथी दलों ने अपनी सीटों में नाटकीय ढंग से बढ़ोतरी की थी, लेकिन ऐसा कभी-कभी ही होता है। मैंने अपने कुछ लेखों में क्षेत्रीय दलों की भूमिका और ताक़त का सार प्रस्तुत किया है। राज्यों की प्रमुखता का बढ़ना और राज्य के दलों की भूमिकाओं ने एक दूसरे को मज़बूती प्रदान की है। सिर्फ़ हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और उत्तराखण्ड जैसे चंद राज्य ऐसे हैं जहाँ राज्य के दलों की कोई अहम भूमिका नहीं है। ज़्यादातर राज्यों में राज्य के दल ही वहाँ के प्रमुख राजनीतिक किरदार हैं। 1996 के बाद से देश के कई राज्यों में कांग्रेस का पतन हो गया है। भाजपा उन राज्यों में जगह बनाने की कोशिश कर रही है जहाँ उसका पारम्परिक आधार नहीं रहा है। वह ओडीशा और कर्नाटक में घुस गयी है और पश्चिम बंगाल और आंध्र प्रदेश में घुसने ही वाली है। भाजपा काफ़ी समय से केरल की दोध्रुवीय राजनीति पर भी चोट कर रही है। अगर इन राज्यों में कांग्रेस की सक्रिय भूमिका रहती है और भाजपा भी पैठ बनाती है तो राज्यों की भूमिका पर सवालिया निशान लग जाएगा। अर्थात् राज्य की पार्टियों की बीस साला भूमिका तीन मुद्दों पर निर्भर रही है। पहला, इन दलों द्वारा राज्य के स्तर पर राजनीतिक बहस निर्धारित करना; दूसरा, दक्षिण और पूर्व के तमाम इलाक़ों में भाजपा द्वारा अपनी पैठ बनाने में हो रही देर; और तीसरा व सबसे अहम, राजनीति की वह अनवरत भाषा जो जातियों के विमर्श को जगाती है।

राज्य की पार्टियों के बारे में मेरा आरम्भिक आकलन दर्शाता है कि राज्य की पार्टियों का उभार जाति और अन्य पिछड़े वर्ग की राजनीति के उभार के साथ ही हुआ है। पिछड़ी जाति की राजनीति के विभिन्न समीकरण राज्य के स्तर पर सबसे ज़्यादा प्रासंगिक रहे हैं। ओबीसी राजनीति की भाषा ने

06_suhas_Layout 1 5/1/2014 3:33 PM Page 72

राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार्यता और तरजीह भले पा ली हो, लेकिन पिछड़े वर्ग की वास्तविक राजनीति राज्य के स्तर पर ही दिखाई पड़ती है। दरअसल नब्बे के बाद की अवधि में राज्य की पार्टियों ने क्षेत्रीय मुद्दों से ज़्यादा जाति के मुद्दों को उठाया है। यह बात जितना ओबीसी राजनीति पर लागू होती है उतनी ही दलित राजनीति पर भी लागू होती है। जाति आधारित लामबंदी ने पार्टियों को राज्‍य केंद्रित बना दिया है। यहाँ तक कि औपचारिक राष्ट्रीय मान्यता हासिल करने के बाद भी बहुजन समाज पार्टी (बसपा) उत्तर प्रदेश के बाहर राजनीतिक प्रतिस्पर्धा में स्थायी असर नहीं बना सकी है। जाति के मुद्दों के अलावा ऐसे भी दल हैं जिन्होंने अपने को एक राज्य तक सीमित रखा है : (हलकी-सी क्षेत्रीय अपील के साथ)— उदाहरण के लिए तृण मूल कांग्रेस, बीजू जनता दल (बीजद) और तेलुगु देशम पार्टी (तेदेपा)। इन सभी क्षेत्रीय दलों ने 1989 के बाद एक साथ मिल कर राष्ट्रीय सरकार के गठन में भूमिका निभाई है। इस तरह हमारे पास एक विशेष क़िस्म की राजनीतिक स्थिति है। पार्टियाँ एक विशेष राज्य के प्रतिस्पर्धी दायरे से ताक़त हासिल करते हुए अखिल भारतीय स्तर पर सत्ता में हिस्सेदारी का दावा कर रही हैं। 1999 के बाद यह स्पष्ट तरीक़े का जो दो-ध्रुवीय ढाँचा उभरा है उसका श्रेय राज्य स्तरीय दलों को दिया जाना चाहिए जिन्होंने पहले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ (राजग) और बाद में संप्रग में से किसी एक गठबंधन का दामन पकड़ा।

आगामी लोकसभा चुनाव में दो सवाल अहम होने जा रहे हैं। क्या राज्य की पार्टियाँ संसद में अपनी दो दशक पुरानी ताक़त क़ायम रख पाएँगी? क्या वे सरकार बनाने में अहम भूमिका निभाएँगी या वे अपना संख्या बल क़ायम रखते हुए अहमियत खो देंगी? लेकिन प्रतिस्पर्धा की संरचना से संबंधित इन दोनों सवालों से ज़्यादा ठोस सवाल यह है कि क्या राज्य की पार्टियाँ राजनीतिक होड़ के एजेंडे को प्रभावित कर सकेंगी और प्रतिस्पर्धा में राज्यों की विशिष्टता पर ज़ोर क़ायम रख सकेंगी। इस मुद्दे के दो आयाम हैं। एक आयाम राज्यों की पार्टियों का केंद्रीय स्तर पर जाति और सामाजिक न्याय के मुद्दे को जीवित रखना। अगर वे ऐसा नहीं कर सकीं तो राज्य स्तरीय अभिजात वर्ग की सुविधा के लिए इस्तेमाल होने वाली चेरी बनकर रह जाएँगी। दूसरा आयाम राज्यों के सकल उभार की बहस से संबंधित है। इस तरह सवाल यह बनता है कि क्या राज्य की पार्टियाँ दबाव डाल कर राज्य केंद्रित मुद्दों को होड़ का विषय बनाते हुए राज्य को राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का क्षेत्र बना सकेंगी या वे केवल ऐसी राज्य स्तरीय खिलाड़ी बन कर रह जाएँगी जिनमें राज्य केंद्रित मुद्दे निर्धारित करने की क्षमता नहीं होती।

मतदाताओं की वरीयता को आकार देने वाले कारक

नब्बे का दशक और इक्कीसवीं सदी का पहला दशक न सिर्फ़ राजनीतिक घटनाओं से भरा दशक रहा है, बल्कि ये बीस साल राजनीतिक मंथन के वर्ष रहे हैं। पार्टियाँ और सरकारें तेज़ी से सत्ता में आती-जाती रहीं। राजनीतिक दलों का चुनावी भाग्य दो चुनावों के बीच तेज़ी से उठता-गिरता रहता है। यहाँ तक कि एक चुनाव में भी दो राज्यों में नतीजे अलग-अलग होते रहे हैं। मतदाता एक पार्टी से दूसरी पार्टी की तरफ़ खिसकते रहे हैं। इस तरह तकनीकी अर्थों में इस दौर में पर्याप्त चुनावी अनिश्चितता (दो चुनावों के बीच मतदाताओं का एक पार्टी से दूसरी पार्टी की ओर खिसकना) बनी रही। अगर हम 1989 और 1996 के दो चुनावों को अलग रखें जिनमें कांग्रेस को हार मिली थी, तो भी बाक़ी चुनावों में चुनावी अनिश्चितता की औसत दर 26 प्रतिशत के आसपास थी (शून्य अनिश्चितता का मतलब है वोट-आधार में कोई परिवर्तन न होना और सौ का मतलब वोट बेस का पूरी तरह खिसक जाना है)। कई राज्यों ने पिछले 25 सालों के दौरान इससे भी ज़्यादा अनिश्चितता दिखायी है (बिहार 2000 में, हरियाणा 2000 में, कर्नाटक 1999 में, ओडीशा 2000 में , पंजाब 1997 में, तमिलनाडु 1996 में)।

06_suhas_Layout 1 5/1/2014 3:33 PM Page 73

इस अनिश्चितता के परिणामस्वरूप सामाजिक तबक़े भी एक पार्टी से दूसरी पार्टी की ओर खिसकते रहे। हालाँकि यह एक सोचने लायक़ प्रश्न है कि क्या इस दौरान कांग्रेस और भाजपा जैसी पार्टियों का कोई बुनियादी आधार रहा है। कांग्रेस के आदिवासी और मुसलमान वोट 1996 से एक चुनाव से दूसरे चुनाव के बीच आते-जाते रहे हैं। इसी तरह उच्च और मध्यवर्ती जातियाँ कभी भाजपा के साथ स्थायी तौर पर नहीं जुड़ी रहीं। अगर हम मानें कि ये सामाजिक तबक़े इन पार्टियों के मूल आधार रहे हैं तो हम यह अंदाज़ लगा सकते हैं कि वे अपने मूल आधार को अपने साथ मज़बूती से जोड़ कर नहीं रख सकी हैं। 1998 में पिछड़े वोटों में सर्वाधिक समर्थन की ऊँचाई (27 प्रतिशत) तक पहुँचने के बाद भाजपा का इन समुदायों का सबसे कम समर्थन रह गया। शायद यही कारण है कि 1999 के बाद भाजपा में एक तरह का ठहराव रहा। समय-समय पर उस आधार का क्षरण होता रहा लेकिन अप्रत्याशित दायरे से आने वाले अतिरिक्त वोटों के हासिल होने से विजय भी मिलती रही। इससे संकेत मिलता है कि हर तरह की सम्भावना के बीच, प्रतिस्पर्धात्मक संरचना की तुलनात्मक स्थिरता के बाद भी (दो मुख्य पार्टियों और कई राज्य स्तरीय पार्टियों के साथ) राजनीतिक दलों के साथ सामाजिक तबकों का रिश्ता कमज़ोर है। हालाँकि कांग्रेस को पारम्परिक तौर पर कमज़ोर वर्ग की पार्टी माना जाता है लेकिन वह 2009 में अचानक शहरी और मध्यवर्गीय वोट (ऊँची जाति के वोट भी) हासिल करते दिखाई पड़ी। उसी तरह भाजपा को शहरों की ऊँची जाति और मध्यवर्ग की पार्टी माना जाता है लेकिन वह 1998-1999 के बीच गाँवों के ओबीसी वोटों पर आधारित होते दिखाई पड़ी। यह लगातार आवाजाही उत्तर-कांग्रेस राजनीतिक प्रणाली का नज़ारा बेहतरीन तरीक़े से दिखाती है।

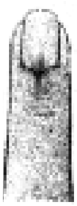

दलों का चुनावी भाग्य दो चुनावों के बीच तेज़ी से उठता-गिरता रहता है। एक चुनाव में भी दो राज्यों में नतीजे अलग-अलग होते रहे हैं। मतदाता एक पार्टी से दूसरी पार्टी की तरफ़ खिसकते रहे हैं। इस तरह तकनीकी अर्थों में इस दौर में पर्याप्त चुनावी अनिश्चितता (दो चुनावों के बीच मतदाताओं का एक पार्टी से दूसरी पार्टी की ओर खिसकना) बनी रही।

इसलिए जो लोग चुनावी राजनीति की सार्थक समझ हासिल करना चाहते हैं उनके सामने दो चुनौतियाँ हैं। पहला, उत्तर-कांग्रेस दौर में मुख्य दलों के दीर्घकालीन सामाजिक आधार की शिनाख़्त करना और दूसरा, मतदाताओं की प्राथमिकता तय करने वाले सामाजिक और राजनीतिक कारकों का महत्त्व समझना। कई वज़हों से ये चुनौतियाँ जटिल हैं : सामाजिक कारकों की रोशनी में बनने वाली राजनीतिक प्रक्रिया की जो समझ इस मान्यता पर आधारित है कि जाति ज़्यादा प्रमुख कारक है। लेकिन, असलियत यह है कि जाति और वर्ग किस तरह एक दूसरे से अन्योन्यक्रिया करते हैं इसकी एक अधिक अर्थभेदी परिभाषा का अभी भी इंतज़ार है। वास्तविक जीवन-स्थितियों में वर्ग और जाति के आपसी मिलान के कारण यह काम ज़्यादा जटिल हो गया है। नब्बे के दशक में हम जाति और वर्ग की सहज परस्परव्यापी स्थिति में एक तरह का संबंध-भंग देखते हैं। धीरूभाई शेठ का तर्क है कि मध्यवर्ग अब तेज़ी से ओबीसी, दलित और आदिवासियों को अपने भीतर समाहित कर रहा है। सामाजिक समूह अभी भी पिछड़े हो सकते हैं लेकिन इन समूहों के एक हिस्से को मध्यवर्ग में शामिल

06_suhas_Layout 1 5/1/2014 3:33 PM Page 74

करने से मध्यवर्ग की संरचना बदल रही है। इसलिए यह जताना पर्याप्त नहीं है कि पिछड़े वोट किसी एक पार्टी को मिलते हैं या दलित वोट अलग पार्टी को। बल्कि यह बताना भी ज़रूरी है कि राजनीतिक दलों के वोटों के आधार की जाति और वर्ग की संरचना क्या है। इसी तरह राजनीतिक कारकों के मामले में पाँच ऐसे कारक हैं जिन पर ध्यान देना ज़रूरी है : प्रदर्शन, नेतृत्व, नीतियाँ, मुद्दा आधारित लामबंदी और संरक्षण। 1996 के बाद के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन कई चुनाव-पूर्व और चुनाव के बाद के सर्वेक्षणों के माध्यम से ऐसे कुछ कारकों की जाँच करता रहा है।

कुछ लोगों ने इस अवधि की शिनाख़्त दूरगामी असर डालने वाली आर्थिक नीतियों में परिवर्तन के दौर की तरह की है, बावजूद इसके कि चुनाव आर्थिक नीतियों के मुद्दे पर शायद ही लड़े गये हों। समानता और समतामूलक वितरण की कसौटियों पर जाँचे जाने वाले परिणामों की तरफ़ ध्यान तो दिया जाता है, लेकिन इसके नीतिगत आयामों को राजनीतिक बहसों में दोयम स्थान ही प्राप्त होता है। इससे अर्थव्यवस्था पर राज्य के नियंत्रण या उदारीकरण के मुद्दे पर मतदाताओं की प्राथमिकता तय नहीं होती दिखती (इस बारे में और अन्य नीतिगत मुद्दों के बारे में नीचे चर्चा की गयी है)। इस तरह राज्य-स्तर के नेतृत्व की अहमियत तो बनी हुई है लेकिन जैसा कि इंदिरा और राजीव के दौर में होता था उस तरह से कोई भी नेता राष्ट्रीय स्तर पर चुनाव को अपने नेतृत्व के सवाल पर जनमतसंग्रह में नहीं बदल सका है। नीतिगत और नेतृत्व के मुद्दों की ग़ैर-मौजूदगी के कारण इस दौरान सरकार के प्रदर्शन के मुद्दे ने पर्याप्त महत्त्व प्राप्त कर लिया है। एक बार जब हम प्रदर्शन और संरक्षण के बीच संबंध देखने लगेंगे तो जाति और वर्ग का पार्टी-जनाधार से जुड़ा मुद्दा फिर चर्चा में आने लगता है। इस प्रकार वर्ग, जाति, प्रदर्शन और संरक्षण की परिकल्पनात्मक चौहद्दी के बीच मतदाताओं की वरीयता आकार लेती है। यह चौहद्दी किस प्रकार चुनावी परिणाम उत्पन्न करती है, और उनकी संरचना से क्या किसी स्थायी प्रारूप का जन्म होता है जिसमें सुनिश्चित भविष्य की क्षमता होती है— यह बात भी विचारणीय है।

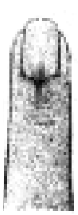

राज्य-स्तर के नेतृत्व की अहमियत तो बनी हुई है लेकिन जैसा कि इंदिरा और राजीव के दौर में होता था उस तरह से कोई भी नेता राष्ट्रीय स्तर पर चुनाव को अपने नेतृत्व के सवाल पर जनमतसंग्रह में नहीं बदल सका है।

पार्टियों की ज़बरदस्त बहुलता के बीच सिकुड़ती वरीयता

उत्तर-कांग्रेस प्रणाली में राजनीतिक दलों का संख्यात्मक विस्फोट एक और ऐसा कारक है जिसने पार्टियों के सामाजिक आधार के मुद्दे को जटिल बना दिया है। बड़ी संख्या में उभरी छोटी और राज्य स्तरीय पार्टियों ने सुनिश्चित कर दिया है कि प्रतिस्पर्धा एकदम खुली और एक हद तक 'अव्यवस्थित' रहेगी। संप्रग और राजग यूपीए जैसे दो गठबंधनों ने एक व्यवस्था लागू करने की कोशिश की थी। लेकिन हुआ यह कि ये दो गठबंधन एक प्रकार से स्थिर होते गये पर कई अहम खिलाड़ियों ने इन गठबंधनों से बाहर रहने का फ़ैसला किया। एक प्रकार की स्थिरता के बावजूद 2009 के चुनावों के आस-पास यह दोनों गठबंधन बिखराव की स्थिति में आने लगे। बीजू जनता दल ने राजग से संबंध तोड़ लिया, कांग्रेस ने राष्ट्रीय जनता दल को संप्रग से बाहर ठेल दिया और द्रमुक और कांग्रेस के बीच संबंध खट्टे हो गये। ज़ाहिर है कि 2014 के चुनाव में पहले के मुक़ाबले कम व्यवस्थित प्रतिस्पर्धा

06_suhas_Layout 1 5/1/2014 3:33 PM Page 75

होने जा रही है। हालाँकि ज़्यादा सुसंगत बात यह है कि उत्तर-कांग्रेस राजनीतिक प्रणाली के पूरे दौर में जहाँ पार्टियों का संख्यात्मक विस्फोट हुआ वहीं ठोस विकल्पों का अभाव भी होता गया। शायद यह परिघटना ज़्यादा चौंकाने वाली नहीं है। भारत की चुनावी राजनीति हमेशा एक तरफ़ रैडिकल और आंदोलनोन्मुखी विशेषताओं और दूसरी तरफ़ प्रतिनिधियों के खूँटे से बँधे लोकतंत्र के ढर्रे के बीच झूलती रही है। अगर कोई दीर्घकालिक नज़र डाले तो समाजवादी और साम्यवादी चुनौतियाँ सत्तारूढ़ दल को हटाने-भर से ज़्यादा लोकतंत्र को तात्त्विक रूप प्रदान करने से संबंधित रही हैं। इंदिरा गाँधी ने अगर अपनी ही पार्टी के ख़िलाफ़ बग़ावत की थी तो उसकी संरचना ज़्यादा मजबूत कल्याणकारी लोकलुभावनवाद पर आधारित थी, जबकि जयप्रकाश नारायण सम्पूर्ण क्रांति की बात करते थे और इमरजेंसी के बाद का चुनाव पूरी तरह से लोकतांत्रिक ढाँचे को बचाने के लिए था। 1989 और 1991 के चुनाव में मण्डल और मंदिर के मुद्दों के रूप में चयन के ठोस विकल्प मौजूद थे। हालाँकि उस दौरान जो राजनीतिक मंथन हुआ उसने इन चुनावों को उन मुद्दों के इर्द-गिर्द ज़्यादा मजबूती से आकार नहीं लेने दिया। उसके बाद से धीरे-धीरे चुनावी लोकतंत्र की लय बनने लगी। भाजपा ने नब्बे के मध्य से अपना हिंदुत्ववादी एजेंडा नरम करना शुरू किया, लेकिन उसी के साथ हिंदुत्व के तत्त्व राजनीति में परोक्ष रूप से क़ायम रहे। उसी में पिछड़ी जाति की राजनीति से पैदा हुई ऊर्जा को समायोजित और अनुकूलित कर लिया गया।

जैसे-जैसे 2014 का चुनावी संघर्ष तेज़ हो रहा है वैसे-वैसे हमें कांग्रेस की लाचारी और भाजपा के प्रचार की सीमाएँ दिखाई पड़ रही हैं। जब मोदी भाजपा के प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार के तौर पर प्रस्तुत किये गये तो कांग्रेस ने इसे हिंदुत्व की तरफ़ झुकाव के रूप में दिखाने में कड़ी मेहनत की। हालाँकि मोदी के प्रचार को देखते हुए कांग्रेस इस दलील को और आगे नहीं बढ़ा पायी। भाजपा ने पहले यह कहना शुरू किया कि राष्ट्रवाद और हिंदुत्व एक ही है, लेकिन जल्दी ही इस दलील को छोड़ कर उसने विकास के मुद्दे को ज़्यादा ज़ोर से पकड़ लिया। इसने चुनावी दायरे को विचार या नीति के स्तर पर गम्भीर मुक़ाबले से वंचित कर दिया। अब ज़्यादातर फ़ोकस कार्यक्रम या उस पर होने वाले प्रदर्शन पर है। उसी के साथ लोकनीति की ओर से किये गये चुनाव-पूर्व सर्वेक्षण संकेत करते हैं कि (सभी वर्गों के) आधे से ज़्यादा मतदाता यह मानते हैं कि पिछले कुछ सालों में अमीर और ग़रीब की खाई बढ़ी है। यह अहसास आर्थिक हितों की राजनीति के लिए गुंजाइश देता है, लेकिन पार्टियाँ उस राजनीति के लिए तैयार नहीं हैं। इसलिए वस्तुनिष्ठ आर्थिक स्थितियों के होते हुए भी 2014 के चुनाव का ताल्लुक़ ज़्यादातर व्यक्तित्व, छवि और मीडिया कवरेज़ के बारे में है, न कि प्रतिभागियों और उनके बीच के फ़र्क़ के बारे में।

इस समय विश्लेषक के लिए करने लायक़ काम शेष है (अ) इस बात की व्याख्या करना कि भारत का चुनावी लोकतंत्र एक तरह से रोज़मर्रा का कारोबार बन गया है; यह पता करना कि क्या इस रोज़मर्रा के ढर्रे के बीच कोई ऐसा स्थान है जो मतदाताओं के लिए चयन के विकल्प खोलता है; और (ब) उस रुझान को देखना जिसमें फिर चुनावी लोकतंत्र में तात्त्विकता के समावेश की सम्भावना है।

प्रतिरोध की राजनीति

अर्थव्यवस्था से असंतोष, वास्तविक नीतिगत विकल्प की ग़ैरमौजूदगी और चुनावी लोकतंत्र के रोज़मर्रा की चीज़ बन जाने का जटिल त्रिकोण एक साथ मिलकर व्यवस्था-विरोध के लिए की गयी प्रतिरोध की राजनीति पैदा करता है। ऐसा 2011 के भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन के दौरान हुआ। भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन और उसके बाद आम आदमी पार्टी के गठन दिल्ली की आरामदेह दो-ध्रुवीय राजनीति को गड़बड़ा दिया। ये घटनाक्रम संकेत करता है कि व्यवस्था विरोधी राजनीति किस सीमा तक जा सकती है और उसकी भावनाएँ क्या स्वरूप ग्रहण कर सकती हैं। एक अर्थ में आप के नाटकीय उभार

06_suhas_Layout 1 5/1/2014 3:33 PM Page 76

को नब्बे के दशक के लोकतांत्रिक उभार के विस्तार और उससे असम्बद्ध रूप के तौर पर देखा जा सकता है। नब्बे के दशक का उभार नये सामाजिक तबक़ों के राजनीति में प्रवेश के बारे में था। लेकिन ऐसा लगता है कि 2010 के दशक का उभार गुणात्मक रूप से अलग होने के कारण लगभग तीसरे लोकतांत्रिक उभार की संज्ञा दिये जाने की योग्यता रखता है। एक बात तो यह है कि यह नया उभार ख़ुद को 'जनता' नामक शै पर आधारित मानता है, और उसका यह विचार निचले या पिछड़े तबक़ों की राजनीति के मुहावरे से भिन्न है। शाब्दिक रूप से आम आदमी सामान्य व्यक्ति की छवि पकड़ने की कोशिश करता है, लेकिन आप के माध्यम से और उसके इर्द-गिर्द जो राजनीति उभर रही है वह लोकतांत्रिक व्यवस्था से नागरिक की अपूर्ण उम्मीदों के बारे में है। यहाँ किरदार (नागरिक) और मक़सद (लोकतांत्रिक) दोनों अमूर्त हैं। दूसरी बात यह है कि इसके भीतर नयी राजनीति का जो मूल मुद्दा है वह लोकतांत्रिक राजनीति के उस विकृतीकरण का है जो चुनावी लोकतंत्र में होता है। तीसरी बात यह है कि आप न केवल समाज के विभिन्न तबक़ों का प्रतिनिधित्व करती है बल्कि उसका दावा भी करती है और राजनीतिक व्यवस्था के बारे में उसकी आलोचना की व्यापक गूँज तमाम जनता में सुनाई पड़ती है, लेकिन उसकी भाषा, उसकी अपील और उसके कार्यक्रमों का रुझान ज़्यादा मध्यवर्ग के बारे में है। इस अर्थ में नया लोकतांत्रिक उभार उस उभरते मध्यवर्ग (वास्तविक और आकांक्षी) से संचालित हो रहा है जिसने पिछले तीन दशकों में वृद्धि दर में बढ़ोतरी और आर्थिक नीतियों (राजीव गाँधी से जिसकी शुरुआत हुई थी) से ताक़त पायी है।

बहरहाल, आप की गतिविधियों और हस्तक्षेप ने मौजूदा राजनीति और राजनीतिक विश्लेषण को एक से अधिक चुनौतियाँ दी हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अगर आप को संसद में दस से ज़्यादा सीटें मिल गयीं और उसका आधार दिल्ली से बाहर के कुछ और राज्यों में बन गया, तो वह राजनीतिक प्रतियोगिता की दो-ध्रुवीयता को चुनौती देगी। लेकिन इस अल्पकालिक असर के अलावा आप राजनीतिक दलों को पार्टी की कार्यप्रणाली के भीतर और पार्टी समर्थक और नेता के रिश्तों में पारदर्शिता क़ायम करने के लिए मजबूर करेगी। तीसरी बात यह है कि रैडिकल लोकतंत्र की अपने जुमलेबाजी के कारण आप ग़ैर-दलीय दायरे से बौद्धिकों, कार्यकर्ताओं और मध्यवर्ग के उस तबक़े को आकर्षित करती रहेगी जो केवल मतदाता की भूमिका निभाने से प्रसन्न नहीं हैं। राजनीतिक व्यवस्था न केवल दिवालिया हो चुकी है, बल्कि उसने कुछ समूहों के स्वार्थी गठजोड़ का रूप ले लिया है। ऐसी राजनीतिक व्यवस्था पर जन-नियंत्रण का आकर्षक आग्रह इस बात की गारंटी करेगा कि इस लोकतांत्रिक उभार को अपने स्वाभाविक और मूल आधार के बाहर समर्थन मिलता रहेगा।

उपसंहार

हमारी इस चर्चा ने न सिर्फ़ चुनाव के बारे में हमारी जानकारियों का मानचित्र पेश किया है, बल्कि जिसे हम नहीं जानते उसका भी ख़ाका खींचा है। यहाँ उठाए गये कुछ मुद्दों पर सर्वेक्षण से प्राप्त प्रमाणों की सहायता से विस्तृत विचार-विमर्श किया गया है। एक दशक या उससे भी ज़्यादा समय के अंतर के बाद नब्बे के दशक के मध्य में चुनावों और मतदान-प्रवृत्तियों के ज़्यादा गम्भीर और व्यवस्थित अध्ययन की परम्परा शुरू हुई है। इसलिए जहाँ हमारे पास इस बात के कुछ सूत्र हैं कि उत्तर- कांग्रेस युग में मतदाता किस तरह से वोट डाल रहा है वहीं एक मोटा-मोटा ख़ाका इस बात का भी है कि अस्सी के दशक से नब्बे के दशक के बीच क्या परिवर्तन हुआ है। इसके अलावा यहाँ जिस दौर पर अध्ययन किया गया है वह घटनात्मक राजनीतिक बदलाव और गम्भीर अनिश्चितता का है। अनिश्चितता सत्तारूढ़ दलों और गठबंधनों में परिवर्तनों के अर्थ में ही नहीं बल्कि एक चुनाव से दूसरे चुनाव के बीच राजनीतिक दलों के चुनावी भाग्य में आये उतार-चढ़ाव के बारे में है। इसका अभिप्राय है कि इस दौर में मतदाता और पार्टी के संबंधों की संरचना स्थायित्व से वंचित रही है।

06_suhas_Layout 1 5/1/2014 3:33 PM Page 77

प्रतिमान के चुनाव-अध्ययन विशेषांक का एक निबंध यह दर्शाता है कि मतदाताओं के सामने अचानक चुनने के लिए तमाम दलों का विकल्प उपस्थित हो गया और इस दौरान सामाजिक समूहों और राजनीतिक दलों के बीच का रिश्ता हमेशा अनिश्चय में रहा। नतीजतन नब्बे के दशक में मतदाताओं की वरीयता का कोई स्थायी प्रारूप नहीं दिखता। दूसरे शब्दों में जहाँ नब्बे के दशक में प्रतिस्पर्धा की संरचना स्थिर हुई (यानी एक तरफ़ दो बड़ी पार्टियों के बीच होड़ हुई और दूसरी तरफ़ दो बड़े गठबंधनों के बीच मुक़ाबला हुआ), लेकिन होड़ की इस अपेक्षाकृत स्थिर संरचना का सार पिछली चौथाई सदी में लगातार बदलता रहा। प्रतिस्पर्धियों और उनकी तुलनात्मक शक्ति हमेशा स्थिर रही, लेकिन इस स्थिरता को उत्पन्न करने वाली सामाजिक शक्तियाँ हमेशा एक जैसी नहीं रहीं। यही कारण है कि हर चुनाव का अध्ययन और चुनाव-परिणामों की व्याख्या प्रतिस्पर्धात्मक राजनीतिक प्रक्रिया की व्यापक समझ के लिए बेहद प्रासंगिक हो जाती है।

सोलहवीं लोकसभा का चुनाव सिर पर है और लोकनीति चुनाव से क़रीब एक साल पहले से जनमत पर नज़र रखे हुए है। यह अध्ययन संकेत देता है कि 2014 के चुनावों के दौरान सामाजिक शक्तियों के समीकरण एक नयी करवट या आकार ग्रहण करेंगे। राज्यों और राष्ट्रीय स्तर के मुद्दों की तुलनात्मक प्रासंगिकता बदलेगी, लेकिन ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि आर्थिक स्थितियाँ, महँगाई और आर्थिक दिक़्क़तों के मुद्दे विभिन्न सामाजिक तबक़ों के मतदाताओं के सरोकार बनेंगे। इस पृष्ठभूमि में पिछले कुछ चुनावों के विश्लेषणों के सबक बहुत प्रासंगिक हो जाएँगे। चुनावी राजनीति के छात्रों की रुचि महज इस बात में नहीं होगी कि क्या सत्तारूढ़ गठबंधन में किसी प्रकार का बदलाव होगा, क्योंकि एक लोकतांत्रिक राजनीति में समय समय पर यह बदलाव तो होता ही है, बल्कि उनका फ़ोकस इस बात पर ज़्यादा होगा कि कौन से मुद्दे परिणामों को आकार देंगे। क्या अस्मिता के मुद्दे परिणामों को आकार देंगे या मतदाताओं का सामाजिक चरित्र उन्हें किन्हीं विकल्पों की तरफ़ धकेलेगा और उन सबसे ऊपर यह बात अहम है कि सामाजिक और राजनीतिक ताक़तों के नये समीकरणों का भविष्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

इस रूपरेखा की प्रस्तुति का उद्देश्य, विषय-प्रवेश संबंधी इस निबंध या इसके बाद के अन्य निबंधों के माध्यम से, पाठकों के भीतर 2014 के चुनावी मुक़ाबले की बेहतर समझ विकसित करना ही नहीं है, बल्कि पिछले पच्चीस या उससे ज़्यादा वर्षों के दौरान चुनावी राजनीति से उभर रही दीर्घकालिक प्रवृत्तियों और प्रारूपों के बारे में बृहत्तर मुद्दे पेश करना भी है।

संदर्भ

ई. श्रीधरन (2002), 'फ्रैगमेंटेशन ऑफ़ इण्डियन पार्टी सिस्टम 1952-1999, सेवन कंपीटिंग एक्सप्लानेशंस', ज़ोया हसन (सम्पा.), *पार्टीज़ ऐंड पार्टी पॉलिटिक्स इन इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

डी.एल. सेठ (1999), 'सेक्यूलराइजेशन ऑफ़ कास्ट ऐंड मेकिंग ऑफ़ न्यू मिडिल क्लास', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 34, अंक 35.

प्रदीप छिब्बर (2009),'आर नैशनल इलेक्शंस ऐनी मोर दैन एग्रीगेशंस ऑफ़ स्टेट लेविल वर्डिक्ट्स?', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 45, अंक 39 .

पाल वैलेस और रामाश्रय राय (2003) (सम्पा.), *इण्डियाज़ 1999 इलेक्शन ऐंड ट्वेंटियथ सेंचुरी पॉलिटिक्स,* सेज, नयी दिल्ली.

पाल वैलेस और रामाश्रय राय (2011) (सम्पा.), *इण्डियाज 2009 इलेक्शन : कोएलिशन, पार्टी कम्पटीशन ऐंड कांग्रेस कॉन्टिन्युटी,* सेज, नयी दिल्ली.

योगेंद्र यादव (1996), 'रिकंफ़िगरेशन इन इण्डियन पॉलिटिक्स :स्टेट असेम्बली इलेक्शंस 1993-95', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 31. ,अंक 2 और 3.

06_suhas_Layout 1 5/1/2014 3:33 PM Page 78

योगेंद्र यादव (1999), 'इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन द टाइम ऑफ़ चेंज : इण्डियाज़ थर्ड इलेक्टोरल सिस्टम 1989–99', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 34, अंक 21–28.

योगेंद्र यादव और सुहास पलशीकर (2003), 'फ्रॉम हेजेमॅनी टू कनवर्जेंस : पार्टी सिस्टम ऐंड इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन इण्डियन स्टेट्स, 1952–2002', *जर्नल ऑफ़ इण्डियन स्कूल ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी,* खण्ड 15, अंक 1 और 2.

योगेंद्र यादव (2004), 'द इल्यूसिव मेंडेट', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 39, अंक 51 .

योगेंद्र यादव और सुहास पलशीकर (2008), 'टेन थीसिस ऑन स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया', *सेमिनार,* 591, नवंबर.

योगेंद्र यादव और सुहास पलशीकर (2009), 'रिविज़िटिंग थर्ड इलेक्टोरल सिस्टम : मैपिंग इलेक्टोरल ट्रेंड्स इन इण्डिया, 2004–09', संदीप शास्त्री, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

योगेंद्र यादव और सुहास पलशीकर (2009), 'बिटवीन फ़ोर्च्यून ऐंड वर्च्यू : एक्सप्लेनिंग द कांग्रेस एंबिगुअस विक्ट्री इन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 44, अंक 39.

रामाश्रय राय और पाल वैलेस (1999) (सम्पा.), *इण्डियन पॉलिटिक्स ऐंड 1998 इलेक्शन : रीजनलिज़्म, हिंदुत्व ऐंड स्टेट पॉलिटिक्स,* सेज, नयी दिल्ली.

रामाश्रय राय और पाल वैलेस (2007) (सम्पा.), *इण्डियाज़ 2004 इलेक्शंस : ग्रासरूट ऐंड नैशनल पर्सपेक्टिव्ज़,* सेज, नयी दिल्ली.

लोकनीति टीम (2004), 'नैशनल इलेक्शन स्टडी : ऐन इंट्रोडक्शन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 40, अंक 51.

लोकनीति टीम (2009), 'नैशनल इलेक्शन स्टडी 2009 : ए मेथॅडोलॅजिकल नोट', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 45, अंक 39.

सुहास पलशीकर (2003), 'द रीज़नल पार्टीज़ ऐंड डेमॉक्रेसी : रोमेंटिक रॉंदेवू आर लोकलाइज़्ड लेजिटमाइज़ेशन ?', अजय मेहरा, डी.डी. खन्ना और गर्ट डब्ल्यू. कुएक (सम्पा.), *पॉलिटिकल पार्टी ऐंड पार्टी सिस्टम,* सेज, नयी दिल्ली.

सुहास पलशीकर (2006), 'कास्ट पॉलिटिक्स थ्रू द प्रिज़्म ऑफ़ रीजन', राजेंद्र वोरा और अन्ना फ़ेल्डहाउस (सम्पा.), *रीज़न : कल्चर ऐंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया,* मनोहर, नयी दिल्ली.

सुहास पलशीकर (2007), 'दलित पॉलिटिक्स इन नाइनटीज़ : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स ऐंड प्रेडिकामेंट बिफ़ोर ऐन अंडरप्रिविलेज़्ड कम्युनिटी, *इण्डियन जर्नल ऑफ़ सोशल वर्क,* खण्ड 68, अंक 1.

सुहास पलशीकर (2013), 'रीजनल ऐंड कास्ट पार्टीज़', अतुल कोहली और प्रेरणा सिंह (सम्पा.), *रॉटलेज हैंडबुक ऑफ़ इण्डियन पॉलिटिक्स,* ऑक्सफ़र्ड ऐंड एनवाई रॉटलेज़.

सुहास पलशीकर (2013), 'ए इलेक्शन स्टडी', के.सी. सूरी (सम्पा.), *इण्डियन डेमॉक्रेसी, आइसीएसएसआर रिसर्च सर्वे ऐंड एक्सप्लोरेशंस (राजनीति विज्ञान, खण्ड 2),* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

सुहास पलशीकर, योगेंद्र यादव और के.सी. सूरी (2014), 'नार्मलाइजेशन ऑफ़ पोस्ट–कांग्रेस पॉलिटी', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टी कॉम्पटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस. नयी दिल्ली.

हीथ ओलिवर और योगेंद्र यादव (2010), 'द राइज़ ऑफ़ कास्ट पॉलिटिक्स : पार्टी सिस्टम चेंज़ ऐंड वोटर्स रिएलायनमेंट, 1962–2004', हीथ एंथनी और राबिन जेफ़री (सम्पा.), *डायवर्सिटी ऐंड चेंज इन मॉडर्न इण्डिया : इकॉनॉमिक, सोशल ऐंड पॉलिटिकल एप्रोचेज़,* ऑक्सफ़र्ड, ब्रिटिश एकेडमी और ओयूपी.

हीथ एंथनी और योगेंद्र यादव (1999), 'द यूनाइटेड कलर्स ऑफ़ कांग्रेस वोटर, 1996 और 1998', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* अंक 34–35.